शिक्षा

यू.जी.सी. के 'मॉडल एक्ट' का प्रारूप : बाज़ारीकरण का रामबाण नुस्खा

उच्च शिक्षा का बाज़ार-फार्मूला : 'औकात हो पाओ, नहीं तो जहन्नुम में जाओ'

● अंशुल

वर्ष 2004 उच्च शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण नीतिगत परिवर्तन का वर्ष रहा है। पूँजीवादी जनवाद अब शिक्षा के क्षेत्र में एकदम नहीं लागू होगा। सरकार अपनी जिम्मेदारियों से पूरी तरह हाथ खींच लेने का नीतिगत निर्णय कर चुकी है। विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षा संस्थानों को पूरी तरह से देशी-विदेशी पूँजीपतियों-व्यापारियों के हवाले कर देने के लिए 'मॉडल ऐक्ट' का खाका तैयार किया जा चुका है। आगामी लोकसभा चुनावों के बाद चाहे भाजपा-गठबंधन सत्तारूढ़ हो या कांग्रेस गठबंधन, इस कानून को पास होना ही है क्योंकि यह शिक्षा नीति निजीकरण-उदारीकरण की उन्हीं नीतियों का एक बुनियादी और जरूरी अंग है, जिनपर सभी बुर्जुआ पार्टियों की आम सहमति है।

मुनाफे की अंधी होड़ और हवस से पैदा हुए पूजीवादी तंत्र के संकट ने शासक वर्ग को विवश कर दिया है कि शिक्षा को सिद्धान्त रूप में सामाजिक आवश्यकता और जनता का बुनियादी अधिकार मानने के पाखण्डपूर्ण दिखावे से वह पूरी तरह से पीछा छुड़ा ले और उसे पूरी तरह से बाज़ार की निर्बंध शक्तियों के हवाले कर दे। पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय के तंत्र के हिसाब से लोगों को शिक्षित-प्रशिक्षित करने का काम देशी-विदेशी पूँजीपति खुद करेंगे और ऐसा करते हुए वे शिक्षा के इस कारोबार से भी अकूत मुनाफा निचोड़ेंगे। सरकार अब तक उच्च शिक्षा के लिए जो भी अनुदान देती थी, वह जनता का ही पैसा होता था जो परोक्ष करों के जरिए सरकारी तिजोरी में जाता था। करों की वह वसूली तो पहले से भी अधिक हो रही है, लेकिन शिक्षा के लिए अनुदान खतम किया जा रहा है। परोक्ष

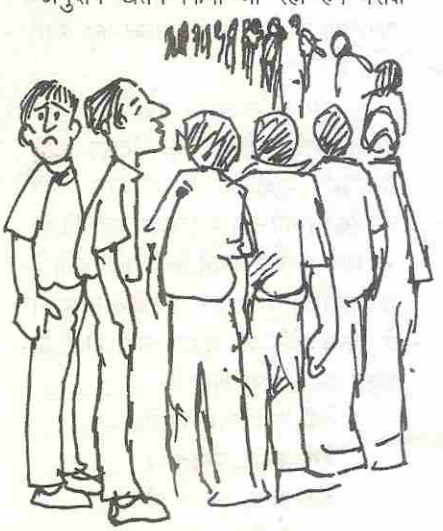

करों की वसूली से, और सब्सिडी घटाकर उस घाटे की भरपाई की जायेगी जो पूँजीपतियों-व्यापारियों को दी जाने वाली तरह-तरह की छूटों से तथा उनसे वसूले जाने वाले प्रत्यक्ष करों में लगातार दी जाने वाली रियायतों से सरकार को हो रही है। गौरतलब है कि शिक्षा-अनुदान और सार्वजनिक कार्यों में दी जाने वाली हर तरह की सब्सिडी से हाथ खींचते हुए सरकार लगातार पूँजीपतियों को तरह-तरह से सब्सिडी दे रही है और साथ ही उन सरकारी खर्चों में भी लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है जिनके अन्तर्गत मंत्रियों-एम.पी.-एम.एल.ए. आदि के वेतन-भत्ते तथा सरकार और नौकरशाही तंत्र के सभी खर्चे आते हैं।

●

भाजपा सरकार द्वारा प्रस्तावित 'मॉडल एक्ट' वस्तुतः उसी अम्बानी-बिड़ला कमेटी की सिफारिशों पर आधारित है, जिसे शिक्षा के क्षेत्र में बदलावों की रूपरेखा तैयार करने की जिम्मेदारी दी गयी थी। तमाम शिक्षाशास्त्रियों और अकादमीशियनों की बजाय शिक्षा-नीति तैयार करने का काम जब मुनाफाखोरों के दो सरदारों के नेतृत्व वाली कमेटी को सौंपा गया, उसी समय यह स्पष्ट हो चुका था कि सरकार करना क्या चाहती है! उच्च शिक्षा को स्ववित्तपोषित बनाना अम्बानी-बिड़ला कमेटी की सर्वोपरि और केन्द्रीय सिफारिश है।

नये विश्वविद्यालय अधिनियम के प्रारूप के रूप में प्रस्तावित 'मॉडल एक्ट' की मूल और मुख्य अन्तर्वस्तु यह है कि विश्वविद्यालयों को सरकार की ओर से मिलने वाली वित्तीय मदद क्रमशः पूरी तरह बन्द कर दी जायेगी और पूँजी एवं संसाधनों की व्यवस्था पूरी तरह से उच्च शिक्षा संस्थानों को स्वयं ही करनी होगी। इसके अतिरिक्त उपाधियाँ और डिग्रियाँ बाँटने की कालेजों को खुली छूट होगी और जगह-जगह दुकानों की ही तरह वे अपनी शाखाएँ भी खोल सकेंगे जैसाकि आज भी यूरोप-अमेरिका के बहुतेरे दोयम दर्जे के निजी विश्वविद्यालय करते हैं। जाहिर है कि अपना खर्च जुटाने

के लिए विश्वविद्यालय और कालेज मुख्यतः छात्रों से वसूली जाने वाली फीस पर ही निर्भर होंगे। नतीजतन, फीसें इस हद तक बढ़ जायेंगी कि आम मध्यवर्गीय परिवार का युवा भी परिसर से बाहर हो जायेगा। शोध आदि के लिए शिक्षा संस्थान पूरी तरह से पूँजीपति घरानों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ओर फण्डिंग एजेंसियों पर निर्भर हो जायेंगे। जाहिर है कि जो पैसा देगा, शोध परियोजनाओं की रूपरेखा भी अपने हितों एवं मुनाफे के मद्देनजर वही तय करेगा। इन हालात में, समाज विज्ञान और साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में गम्भीर और स्वतंत्र शोध-अध्ययन की रही-सही सम्भावनाएँ भी समाप्त हो जायेंगी। यही नहीं, प्रबंधन और नयी तकनोलॉजी की उपशाखाओं में ही कुछ शोध संभव होंगे और वह भी उसी हद तक जितना कारखानों और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को जरूरत होगी। सैद्धान्तिक विज्ञान के क्षेत्र में तो भारत जैसे पिछड़े देशों में शोध की पहले से ही सीमाएँ रही हैं, अब यह दायरा संकुचित होकर न के बराबर हो जायेगा।

वैसे देखा जाये तो 'मॉडल ऐक्ट' के इन प्रावधानों को अपने शासकीय निर्देशों-अनुदेशों के जरिए किश्तों में लागू करने का काम सरकार पहले ही शुरू कर चुकी है। मुख्यतः साठ और सत्तर के दशक में स्थापित जिन आर्थिक एवं सामाजिक अध्ययन-शोध संस्थानों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विभिन्न मंत्रालयों से सहायता मिला करती थी, वे अब लगभग पूरी तरह देशी पूँजीपतियों, विदेशी कम्पनियों और फण्डिंग एजेंसियों पर निर्भर हो गये हैं तथा अकादमिक क्षेत्र के एन.जी.ओ. की तरह काम कर रहे हैं। 'ऑक्सफेम' जैसी संस्थाएँ विश्वविद्यालयों में 'वुमन स्टडीज' जैसे पाठ्यक्रम अपने धन से चलवा रही हैं, जिन्हें यू.जी.सी. की मान्यता प्राप्त है। तकनीकी शिक्षा संस्थानों में यह काम और अधिक खुले रूप में और बड़े पैमाने पर हो रहा है।

अपने संसाधन स्वयं जुटाने के लिए फीसों के अतिरिक्त कालेज और विश्वविद्यालय अपनी जमीनों पर दुकानें एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठान खोलेंगे और देशी-विदेशी पूँजीपतियों के प्रोजेक्ट्स पर काम करने की शर्तों को मानकर उनसे पैसे लेंगे। बाजार में अपना भाव बढ़ाने के लिए सभी कालेज-विश्वविद्यालय उसी तरह मीडिया में अपना विज्ञापन करेंगे, जैसे आज निजी क्षेत्र के तकनीकी व्यावसायिक शिक्षा संस्थान और कुछ विदेशी विश्वविद्यालय करते हैं। कहा जा सकता है कि कैम्पस अब जल्दी ही भव्य-लकदक 'शापिंग माल' सरीखे हो जायेंगे, जिनमें घुसने की बात सोचकर ही आम आदमी सहम जाता है।

जाहिर है कि 'मॉडल ऐक्ट' के लागू होने के बाद सरकार, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विश्वविद्यालय प्रशासन अपना संसाधन स्वयं जुटाकर शिक्षा की दुकान चलाने वाले सम्बद्ध कालेजों की प्रबन्ध-समितियों और शिक्षकों के बीच से अलग हट जायेंगे और शिक्षकों-शिक्षणेतर कर्मचारियों तथा कालेज प्रबंधकों के बीच का सम्बन्ध व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के मालिकों और उनके अस्थायी कर्मचारियों/ठेका मज़दूरों के बीच के सम्बन्धों जैसा हो जायेगा। सरकार अनुदान बन्द करने के बाद विश्वविद्यालयों-कालेजों के प्रशासन को सेवा शर्तों तथा वेतनमान आदि के बारे में भी आम दिशा-निर्देश से ज्यादा कुछ नहीं आदेश दे सकेगी और वे आम दिशा-निर्देश भी बाध्यताकारी नहीं होंगे। रिक्त स्थानों पर स्थायी नियुक्तियों के बजाय ठेके पर अस्थायी नियुक्तियाँ करने और प्रति क्लास के हिसाब से भुगतान की इजाजत देकर इस दिशा में प्रारम्भिक प्रयोगों की पहले ही शुरुआत की जा चुकी है।

'मॉडल ऐक्ट' के क्रियान्वयन के बाद, उच्च शिक्षा के परिसरों-विशेषकर महानगरीय विश्वविद्यालयों के परिसरों के वर्ग-चरित्र में जो क्रमिक बदलाव पहले से ही जारी था, वह छलाँग लगाकर अपनी तार्किक परिणति तक जा पहुँचेगा। कुलीन, उच्चमध्यवर्गीय छात्रों का ही वहाँ पूर्ण वर्चस्व होगा। आम छात्र इन कैम्पसों की महँगी दुर्लभ शिक्षा से वंचित होंगे। जिन्हें बहुत हसरत होगी, वे पत्राचार या दूरस्थ शिक्षा के द्वारा या सुदूर कस्बों के कालेजों में पढ़कर अपने मन को तसल्ली दे देंगे।

दिलचस्प बात यह है कि 'माडल ऐक्ट' का प्रारूप एक ओर जहाँ प्रबंधन-प्रशासन आदि के मामले में शिक्षा को पूरी तरह मुनाफाखोरों के हवाले करने की बात करता है, वहीं दूसरी ओर पाठ्यक्रम तय करने आदि शिक्षा नीति विषयक सभी मामलों में विश्वविद्यालयों को रही-सही स्वायत्ता को भी हड़पकर पूरी तरह मंत्रालय और नौकरशाहों के सुपुर्द कर दिया गया हैं। जोशी जी डंके की चोट पर फरमा रहे हैं कि शिक्षा मंत्रालय का यह दायित्व और अधिकार है कि वह तय करे कि क्या पढ़ाया जाये और देश को क्या जरूरत है! यानी शिक्षा शास्त्री और अकादमीशियन जायें चूल्हें भाड़ में! बुर्जुआ जनवाद के अंतर्गत जो सरकारें हमेंशा से ही बुर्जुआ वर्ग की 'मैनजिंग कमेटी' की भूमिका निभाती रही हैं, लेकिन निर्बन्ध बाज़ारीकरण के वर्तमान दौर में जब सब कुछ 'खुला खेल फर्रूखाबादी' है तो सरकार खुले तौर पर यह भूमिका निभाने लगी है। यानी शिक्षा से पूँजीपति मुनाफा कमायेंगे और साथ ही अपने प्रतिष्ठानों के लिए बौद्धिक शारीरिक उजरती गुलाम तैयार करेंगे। सरकार ऐसी शिक्षा का प्रारूप तैयार करेगी और साथ ही इस बात की भी देखरेख करेगी कि राजकाज और सामाजिक ढ़ाँचें को चलाने सम्हालने वाले कुछ पूँजीवादी बुद्धिजीवी भी तैयार होते रहें। यह काम 'उच्च शिक्षा विकास आयोग' करेगा। जी हाँ, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का यही नया अवतार होगा। जब अनुदान देना ही नहीं है तो 'अनुदान आयोग' नाम का वैसे भी कोई मतलब नहीं रह गया था।

यू.जी.सी. ने 'माडल ऐक्ट' के प्रारूप में इस बात को बेशर्मी के साथ, खुली भाषा में बयान किया है कि उच्च शिक्षा के भूमण्डलीकरण के बाद भारत में निजी एवं विदेशी विश्वविद्यालयों के खुलने की असीम संभावनाएँ पैदा हो गयी हैं। यहाँ यह याद दिलाना जरूरी है कि 'गैट' समझौते पर दस्तखत के बाद भारत उच्च शिक्षा के उदारीकरण के लिए साम्राज्यवादियों के साथ करार से बंध चुका है। उसकी यह बाध्यता है कि 2005 तक वह निजी एवं विदेशी

विश्वविद्यालयों को शिक्षा का धन्धा करने के लिए 'प्रतियोगिता का समतल मैदान (लेवेल प्लेइंग फील्ड) मुहैया कराये। वैसे प्रस्तावित कानून के अस्तित्व में आने से पहले ही दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, बंगलौर जैसे महानगरों में निजी एवं विदेशी विश्वविद्यालयों की बाढ़ सी आ गयी है और अखबारों के पन्ने, विशेषकर सत्रारम्भ के मौसम में, इनके विज्ञापनों से भरे रहते हैं।

●

एक ओर तो यू.जी.सी. ने मॉडल ऐक्ट का प्रारूप विश्वविद्यालयों को सुझाव माँगने की रस्म अदायगी के लिए भेजा है, दूसरी ओर विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता को खत्म करने और भावी कानून के प्रावधानों को अघोषित तौर पर लागू करने की शुरुआत भी कर दी है। इसकी महत्वपूर्ण शुरुआत दिल्ली विश्वविद्यालय से हुई है। जनवरी के प्रारंभ में यू.जी.सी. ने एक निर्देश भेजकर दिल्ली विश्वविद्यालय के एक लाख बीस हजार छात्रों में से साठ हजार छात्रों की पढ़ाई का अनुदान खत्म कर दिया।

ज्ञातव्य है कि दिल्ली विश्वविद्यालय अध्यादेश के अनुसार किसी भी कालेज में 1000 से अधिक छात्रों का दाखिला नहीं हो सकता। लेकिन दाखिले की बढ़ती जरूरतों के मद्देनजर बरसों पहले शिक्षा मंत्रालय ने डी.यू. कालेजों को 'एक्सटेंडेड' (विस्तारित) कालेजों का दर्जा देते हुए उन्हें तय सीटों से अधिक दाखिले का अधिकार दिया था और यू.जी.सी. के तदनुरूप अपना अनुदान भी बढ़ा दिया था। इधर फिर छात्रों की भारी आबादी के चलते दाखिले की समस्या गंभीर हो चली थी और ईवनिंग कालेजों की संख्या बढ़ाने की माँग गत तीन-चार वर्षों से लगातार उठाई जा रही थी, लेकिन इसके उलट यू.जी.सी. ने अनुदान आधा करके सीटों में कटौती का फरमान जारी कर दिया। अब चालीस डी.यू.कालेजों को औसतन 2500 की कटौती करके सीटों की संख्या 1000 पर लानी होगी। कहने की जरूरत नहीं कि इस तुगलकी फरमान से सीधा लाभ दिल्ली में लगातार शाखाएँ खोलते जा रहे विदेशी और निजी विश्वविद्यालयों को होगा। दिल्ली वि.वि. के कालेजों से करीब साठ हजार छात्र उनके खाते में ट्रांसफर हो जायेंगे। जहाँ तक गरीब और निम्नमध्यवर्गीय घरों के छात्रों की बात है, तो उनके लिए तो अब दरवाजे लगभग पूरी तरह से बन्द ही हो चुके हैं।

उल्लेखनीय है कि पिछले ही वर्ष पत्राचार विभाग की भी फीस बढ़ाकर दूनी कर दी गयी, जबकि इस बढ़ोत्तरी के एवज में छात्रों की कोई अतिरिक्त शैक्षणिक सुविधा नहीं दी गयी। इसके चलते पिछले वर्ष के 68,000 के मुकाबले इस वर्ष मात्र 60 हजार छात्रों ने ही पत्राचार द्वारा शिक्षा के लिए पंजीकरण कराया।

यू.जी.सी. ने सीटें घटाने का अपना उपरोक्त निर्देश दिल्ली विश्वविद्यालय को न भेजकर सीधे सम्बद्ध कालेजों के प्रशासन प्रबंधन को भेजा है। यानी कानून तो जब बनेगा तब बनेगा, विश्वविद्यालय की स्वायत्ता पर आघात करने का काम अभी से शुरू कर दिया गया है।

विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता खत्म करने की प्रक्रिया में कुलपतियों की भूमिका भी प्रायः सरकारी टट्टू की ही होती है, क्योंकि स्वयं उनकी नियुक्ति भी वस्तुतः राजनीतिक ही होती है। कभी प्रगतिशील होने के दम भरने वाले दिल्ली वि.वि. के कुलपति द्वारा रजिस्ट्रार पद पर आई.ए.एस. अधिकारी की नियुक्ति और शिक्षक संगठनों के विरोध के बावजूद अपना फैसला न बदलना इसी का द्योतक है। यही सिलसिला देश के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में जारी है। अनुदानों में कटौती के मामले में भी राज्यों की सरकारें यू.जी.सी. से एक कदम भी पीछे नहीं है। हर राज्य में, चाहे किसी भी पार्टी की सरकार हो, अनुदान कटौती लगातार जारी है। वर्षों से रिक्त पदों पर नियुक्तियाँ नहीं हो रही हैं, नये पद सृजन की तो बात ही दूर है! अशंकालिक, ठेके के प्राध्यापकों से काम चलाने का सिलसिला अधिकांश राज्यों के विश्वविद्यालयों में जारी है।

●

पिछले दिनों मानव संसाधन मंत्री ने जब तकनीकी एवं प्रबंधन शिक्षा के संस्थानों की फीस घटाने की बात की और इसके भी पहले न्यायपालिका ने जब मेडिकल कालेजों व इंजीनियरिंग कालेजों के 'डोनेशनों' में बेतहाशा बढ़ोत्तरी पर नियंत्रण की बात की तो बुर्जुआ मीडिया के भाड़े के कलमघसीटों ने इसे यूँ प्रस्तुत किया मानो सरकार और न्यायपालिका का यह रुख आम जनता की चिन्ता करने का द्योतक हो। आइये, जरा इस मिथ्याभास की कुछ परतें उतारकर सच्चाई की पड़ताल की जाये।

पूँजीवाद की मौजूदा जरूरतों के हिसाब से, बाजार में प्रबंधकों और कम्प्यूटर, इलेक्ट्रानिकी, सूचना तकनोलॉजी जैसे कुछ क्षेत्रों के तकनीकविदों की जो माँग है, उसका लाभ उठाते हुए शिक्षा के व्यवसायी अन्धाधुन्ध मुनाफा बढ़ाते जा रहे थे। अब यह सीमा वहाँ जा पहुँची थी कि सिर्फ काले धन वाले नौकरशाह और धनपशु ही अपने लाडलों को डोनेशन या भारी-भरकम फीस देकर पढ़ा सकते थे। एक खुशहाल मध्य वर्ग के व्यक्ति के लिए भी यह लगभग नामुमकिन हो गया था। अब यह पूँजीवादी व्यवस्था की जरूरत थी कि वह लूट की इस बेतहाशा रफ्तार पर कुछ अंकुश लगाये और अपने सामाजिक अवलम्ब के तीव्र क्षरण-संकुचन को रोके। फीसों को घटाने की जो सीमा प्रस्तावित है, वह लागू होने पर भी ग़रीब मज़दूर का तो दूर एक आम मध्यवर्ग का होनहार सपूत भी प्रबंधन एवं तकनीकी या चिकित्सा शिक्षा के इन उच्च संस्थानों तक नहीं पहुँच सकता। दूसरी बात, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। प्रबंधन और तकनोलॉजी के क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजीपतियों को वास्तव में कुछ योग्य हाथों की जरूरत है, तकि वे उजरती मज़दूरों को चूसकर मुनाफा पैदा कर सकें। शिक्षा के व्यवसाय में मुनाफाखोरी को वे उस हद तक नहीं बढ़ने देना चाहेंगे कि धनपशुओं के बिगड़ैल मतिमंद कुलदीपकों से ही प्रबंधन व तकनीकी शिक्षा के संस्थान भर जायें। खुशहाल मध्य वर्ग से यदि कुछ योग्य युवा नहीं आयेंगे तो कारखानों से लेकर वित्तीय संस्थानों और सेवा क्षेत्र के उपक्रमों को भी चला पाना संभव नहीं होगा। यानी, सरकार की फीस वृद्धि और डोनेशन पर नियंत्रण की चिन्ता के पीछे जनता की नहीं बल्कि पूँजीपतियों और पूँजीवादी व्यवस्था के हित की चिन्ता काम कर रही है। प्रबंधन एवं तकनीकी शिक्षा संस्थानों की स्वायत्तता को लेकर भी पिछले

दिनों जो बहस उठ खड़ी हुई थी, वह पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर ही, नीति-नियामकों के दो धड़ों के बीच के मतभेदों की अभिव्यक्ति मात्र थी, और कुछ भी नहीं।

●

'सर्व शिक्षा अभियान' का लोकलुभावन बैलून उड़ाते हुए मान्यवर जोशी जी ने फर्माया है कि उच्च शिक्षा की कीमत देनी होगी, लेकिन बुनियादी शिक्षा निःशुल्क और सबके लिए होगी। अब यह तो सीधे ठगी वाली बात है। परोक्ष करों के जरिए बुनियादी से लेकर उच्च शिक्षा का तंत्र चलाने के लिए खर्चा तो एक हजार एक रास्तों से आम जनता आज भी पहले की ही तरह देती आ रही है। जिस चीज की कीमत अदा की जा चुकी हो, उसे फिर से बेचना तो ठगी ही है। दूसरी बात, शिक्षा चाहे जिस श्रेणी और जिस स्तर की हो, वह समाज की बुनियादी जरूरत और हर नागरिक का बुनियादी अधिकार है, सिद्धान्त रूप में पूँजीवादी जनवाद के सिद्धान्तकार भी इस बात को स्वीकार करते रहे हैं। अब जब इसे घोषित तौर पर बिकाऊ माल बनाया जा रहा है, तो यह पूँजीवादी जनवाद के छद्मों के निरावरण का ही नहीं बल्कि उसके ऐतिहासिक अवसान का भी एक महत्वपूर्ण संकेतक है।

जहाँ तक 'सर्व शिक्षा अभियान' की बात है, सर्वोपरि तौर पर एक लोकरंजक शिगूफा है और तात्कालिक तौर पर एक चुनावी 'हवा मिठाई' भी है। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं तक को सन्देह है कि भारत सरकार इस काम को कर सकेगी। लेकिन इस शिगूफे का एक दूसरा वस्तुपरक पहलू भी है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली आज इतनी उन्नत एवं आधुनिक हो चुकी है उसमें खटने वाले निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलाम के लिए भी एक हद तक की उन्नत चेतना जरूरी है। यानी आबादी के रसातली संस्तरों तक भी शिक्षा की रोशनी एक हद तक पहुँचाना जरूरी है ताकि पूँजीपति नयी, उन्नत, स्वचालित मशीनों पर लगाकर मेहनतकशों की श्रमशक्ति का दोहन कर सकें। यानी, सब तक तो नहीं (वह मुमकिन भी नहीं है), लेकिन विपन्न मेहनतकश आबादी के एक हिस्से के लिए प्राथमिक, मिडिल और हाईस्कूल तक की शिक्षा को सम्भव बनाना आज के पूँजीवाद की जरूरत है।

●

यह इतिहास की स्वयंसिद्ध स्थापना है कि किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था उस देश की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप होती है और शासक वर्ग की हितसाधिता होती है। उसकी कमान तमाम जनवादी छद्मावरणों की आड़ में पूरी तरह से राज्यसत्ता के हाथों में होती है। भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर की वैश्विक पृष्ठभूमि में, हमारे देश में भी न केवल आर्थिक मूलाधार के स्तर पर, बल्कि शिक्षा-संस्कृति सहित अधिरचना के हर धरातल पर श्रम और पूँजी के बीच का ध्रुवीकरण एकदम तीखा हो चुका है। "कल्याणकारी" राज्य और राजकीय

पूँजीवाद का ज़माना बीत चुका है। स्वास्थ्य-शिक्षा सबकुछ बिकाऊ माल बन चुके हैं। पूँजीवादी जनवाद चतुर्दिक क्षरित-विघटित हो रहा है और फासीवादी प्रवृत्तियाँ अनेकशः रूपों में सिर उठा रही हैं। यह जो पूँजीवाद की आम दिशा और प्रवृत्ति है, शिक्षा के क्षेत्र में जारी नीति-परिवर्तन का सिलसिला भी इसी की एक अभिव्यक्ति एवं प्रतिफलन है।

कैम्पसों के वर्ग-चरित्र में परिवर्तन और उनके कुलीनीकरण के साथ ही छात्रों-युवाओं के सामने अब एकमात्र विकल्प यही है कि शिक्षा के बुनियादी अधिकार और शिक्षण-संस्थाओं के जनवादीकरण के आन्दोलन को कैम्पस से बाहर सड़कों पर लाया जाये, समाज में लाया जाये और उसे एक व्यापक छात्र-युवा आन्दोलन के रूप में संगठित किया जाये। 'समान शिक्षा, सबको रोजगार' का नारा यदि बेरोजगार-अर्द्धबेरोजगार-छँटनीशुदा-अधिकारवंचित मेहनतकशों की करोड़ों की आबादी के माँगों के साथ जुड़ेगा, तभी एक प्रचण्ड वेगवाही तूफान का सृजन हो सकेगा। जनवादी चेतना के शिक्षकों और शिक्षणेतर कर्मचारियों के सामने भी अब सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं है कि वे अपनी जनविमुख कुलीनता, आत्मकेन्द्रण और पेशागत संकुचित मनोवृत्ति को छोड़कर शिक्षा के निजीकरण एवं उदारीकरण के विरुद्ध एक राजनीतिक संघर्ष के लिए एकजुट हों और इस संघर्ष को जनता के अन्य हिस्सों के संघर्षों से जोड़ें। इस राह में समस्याएँ तो बहुत हैं। यूनियनों का नौकरशाह नेतृत्व और मात्र संकीर्ण आर्थिक हितों को ही ध्यान में रखने की आदत भी इन्हीं बाधाओं में से एक है। लेकिन हालात शिक्षा क्षेत्र के सभी घटकों को सोचने के लिए ज्यादा से ज्यादा विवश कर रहे हैं। हमें अपनी तैयारी तेज कर देनी होगी।